International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 15-10-2022, Accepted: 02-10-2022, Published: 18-11-2022
Volume 8, Issue 6, 2022, Page No. 10-14

भक्ति काव्यः जन आंदोलन में जन अभिव्यक्ति (विशेष संदर्भः कबीर और तुलसी)

सुरेन्द्र सिंह यादव
शोध छात्र, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
इतिहासकार और साहित्येतिहासकार दोनों इस बात पर सहमत हैं कि भक्ति आंदोलन मूलतः एक जन आंदोलन था। इस आंदोलन का उद्‌गम भक्ति की भाव धारा के रूप में हुआ था। जैसे जैसे यह भाव धारा जन जन में व्यापक होती गयी, वैसे वैसे आंदोलन का रूप धारण कर अखिल भारतीय स्वरूप लेती चली गयी। अगर भक्ति आंदोलन जन आंदोलन है तो यह देखना दिलचस्प होगा कि इस जन आंदोलन में जन की अभिव्यक्ति किस तरह से हुई। बकौल रामविलास शर्मा, भक्ति आंदोलन के संदर्भ में, जन से तात्पर्य मूलतः किसान और कारीगर वर्ग से है। इन दोनों के साथ कभी कभी कृषि आश्रित छोटा व्यापारी वर्ग भी साथ आता रहा है।
भक्ति आंदोलन कविता के क्षेत्र में मुख्यतः दो धाराओं में बहकर चला–निर्गुण और सगुण। निर्गुण काव्य की प्रतिनिधि के रूप में कबीर की कविता को और सगुण काव्य की प्रतिनिधि के रूप में तुलसी साहित्य को बेहिचक लिया जा सकता है। ये दोनों हिंदी भक्ति आंदोलन के दो छोर हैं तो भक्ति काव्य के दो पक्ष। प्रस्तुत शोध आलेख इन दोनों रचनाकारों के काव्य में उपर्युक्त तीनों–किसान, कारीगर और छोटे व्यापारी–वर्ग की अभिव्यक्ति पर केन्द्रित है।

मूल शब्दः भक्ति काव्य, भक्ति आंदोलन, जन संस्कृति, जन पक्षधरता, जन अभिव्यक्ति, जनरुचि, राजरुचि, राज विरोध, आध्यात्मिक रूपक आदि

प्रस्तावना

भक्ति काव्य और भक्ति आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर बात करना, फिर से एक नयी और भिन्न दृष्टि से उस जन आंदोलन की अहमियत पर नज़र डालकर कुछ नया और मूल्यवान पाने की कोशिश करना है। ऐतिहासिक रूप से यह आंदोलन अतीत का आंदोलन है। मध्यकाल का आंदोलन है, मगर पुराना नहीं है। इस काव्य तथा आंदोलन की अर्थवत्ता और प्रासंगिकता आज इसलिए भी बनी हुई हैं कि जब जब पीछे मुड़कर इसकी ओर निहारा है, तब तब इसने कुछ न कुछ दिया ही है। आधुनिक काल की चकाचौंध मध्यकाल से प्रकाश पाती है, यह एक विडम्बना भी है।

"भक्ति का अस्तित्व भावना और विचार के रूप में चाहे जितना पुराना हो लेकिन व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में उसका विकास बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी के बीच में ही दिखाई देता है।"[1] कोई भी भाव–धारा अथवा विचार–धारा तब तक आंदोलन का रूप नहीं ले सकती जब तक कि जन उसमें अपनी भागीदारी सुनिश्चित न कर दे। स्वतंत्रता आंदोलन सही मायने में तब तक आंदोलन नहीं बन पाया जब तक कि महात्मा गांधी ने उसे छोटे–छोटे कस्बों–गाँवों तक न पहुँचा दिया। इरफान हबीब, सतीशचंद्र, हरबंस मुखिया और के. दमोदरन आदि इतिहासकारों का स्पष्ट मत है कि भक्ति भाव–धारा की आंदोलन में परिणति का एक बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण कारण यही जन–भागीदारी है। इस भागीदारी में अग्रणी रहे जन हैं – छोटे छोटे व्यापारी, कारीगर और किसान–मजदूर। रामविलास शर्मा का जोर अंतिम दो वर्गों पर ज़्यादा है– "यह मूलतः एक सामंत–विरोधी आंदोलन है। कभी कभी व्यापारी उसके साथ आते हैं लेकिन यह मूलतः किसानों और कारीगरों का आंदोलन है।"[2]

मैनेजर पाण्डेय एक भूमिका में लिखते हैं कि "...भक्ति काव्य लोकभाषाओं में जनसंस्कृति और जनभावनाओं की अभिव्यक्ति का काव्य है।"[3] यह रोचक है कि जिस आंदोलन को जिस तबके ने राष्ट्रव्यापी स्वरूप दिया, उस आंदोलन की कविता उस तबके की कैसी अभिव्यक्ति देती है। शोध आलेख भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य में इन्हीं जन की अभिव्यक्ति को आधार बनाता है। जिस जन की भागीदारी से भक्ति की भावधारा एक विराट आंदोलन के रूप में पल्लवित हो गयी, उस जन के दुःख की – सुख की बात भक्ति काव्य कहाँ तक और किस प्रकार सहेजता है, यही शोध आलेख का ध्यातव्य है।

भक्ति आंदोलन में और तब से लेकर अब तक के लोक में लोगों के मनाकाश पर जो दो व्यक्तित्व आच्छादित रहे हैं, वे हैं कबीर और तुलसी। लोक ग्राह्यता के पैमाने पर कबीर तुलसी से ओछे नहीं पड़ते। प्रस्तुत आलेख इन्हीं दो रचनाकारों के काव्य में अभिव्यक्त जन को अपने दृष्टिपथ में रखता है।

जन पक्षधरता, न कि राजसत्ता

इतिहास और साहित्येतिहास दोनों के अवलोकन पर एक बात साफ साफ उभरती है कि सत्ता और जनता दोनों साथ साथ बैठ नहीं पातीं। सत्ता सरकार चलाती है, जनता समाधान चाहती है। राजरुचि और जनरुचि, दोनों की मांग और पूर्ति भिन्न–भिन्न स्वभाव की हैं। हिंदी साहित्य के संदर्भ में ही भक्ति आंदोलन (काल) के पूर्वकाल और उत्तरकाल के काव्य में यह बात देखी जा सकती है। आदिकाल के राज्याश्रित रचनाकारों के यहाँ राजाओं की झूठी प्रशंसा में वाह–वाह के समुंदर तो गरजते हैं मगर जन–आह की कोई धारा इनमें दिखायी नहीं देती। रासो काव्य परम्परा ऐसी ही काव्य परम्परा है। शोध करने पर थोड़ी–बहुत जन अभिव्यक्ति जिनमें मिलती है, वे राज्याश्रित नहीं हैं। बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति रीतिकाल के राज्याश्रित रचनाकारों की है। अपने दाताओं को शृंगार–सुरा में मद–मस्त कर देने की कोशिश में इनकी दृष्टि जन के फटे झँगोला के बजाय कामिनी की कंचुकी पर अटकी रही है। बिहारी में इसके अपवाद देखे जा सकते हैं जहाँ राजरुचि के बाद जन को भी स्थान है। मगर कितना...? यह सर्वविदित है। इस विहंगावलोकन से विचार का एक सूत्र यह भी निकलता है कि समाज में जब वीरता (जब वह कर्तव्य पूर्ति के बजाय डींग मारने के लिए हो) और शृंगारिकता (ये दोनों कई बार साथ साथ भी देखे जाते हैं) का अतिरेक पसरता है तो नजरें जन और उसकी पीड़ा को देख नहीं पातीं। सत्ता हाथ आते ही जनप्रतिनिधि कैसे जन को दूर छिटककर

भोग और ऐश्वर्य का लोभी हो जाता है, यह वर्तमान राजनीति में भी दिखाई दे रहा है।
भक्ति काव्य भोग और ऐश्वर्य के बरअक्स त्याग और तपस्या (कर्मनिष्ठा) का प्रतिमान रखता है। भक्ति कविता राजरुचि से कोसों दूर, जनरुचि की अभिव्यक्ति है। राजसत्ता के प्रति बैरागी भाव– 'संतन को कहा सीकरी सों काम' – समूचे भक्ति काव्य की अन्तर्भावना है। यह भावना कबीर और तुलसी के यहाँ भी बखूबी मौजूद है। 'राजा राणा ना बड़ा, बड़ा सो सुमिरै राम' की घोषणा करने वाले कबीर उच्च वर्ण (ब्राह्मण), सामंत–जमींदार और राजा के प्रति अपनी उदासीनता कुछ इस प्रकार व्यक्त कर देते हैं–

कबीर तासै प्रीति करि जाको ठाकुर राम।
पंडित, राजे, भूपती आवहिं कौने काम।।[4]

चाहे उच्च वर्ण का ब्राह्मण हो या किसी जागीर का जमींदार या किसी राज्य का राजा, कबीर के लिए ये सब किसी काम के नहीं। कबीर को प्रीति है तो राम को अपना मालिक मानने वाले अदना जन से।
कुछ लोगों का यह आक्षेप किया है कि कबीर के यहाँ राज–विरोध नहीं है। क्या वाकई कबीर में राज–विरोध नहीं दिखता? सीधे सीधे शायद दिखे भी नहीं। बहुत–सी बातें वे सीधे सीधे कहते भी नहीं हैं। राज–विरोध की पड़ताल करने के लिए हमें उनके समय यानि इतिहास तक जाना होगा। कबीरदास का जन्म सन् 1398 ई० में और मृत्यु 1518 ई० में मानी जाती है। 1489 ई० में सिकंदर लोदी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर और सिकंदर लोदी दोनों एक दूसरे के समकालीन थे। सिकंदर लोदी की इस्लाम परस्त धार्मिक क्रूरता एक ऐतिहासिक तथ्य है। टिट्स महोदय ने एक जगह लिखा है कि उसने इस्लाम क़बूल न करने पर एक रोज 1500 निर्दोष हिंदुओं की हत्या करने का हुक्म दे दिया था। मंदिरों को गिरा कर मस्जिदें बनवा दी थीं।[5] जाहिर है राजसत्ता एक धर्म विशेष को प्रमोट कर रही थी। सत्ता की यह फ़ितरत है कि वह अपने साथ अपने धर्म को भी आगे बढ़ाती है, चाहे वह धर्म आस्तिक हो या नास्तिक। कबीर राजसत्ता द्वारा प्रमोट किये जा रहे इस धर्म को कतई नहीं स्वीकृति देते। इस्लाम का जैसा और जितना विरोध कबीर की वाणी में मिलता है, वैसा और उतना विरोध तब से लेकर अब तक के किसी क्रांतिकारी चिंतक में नहीं देखा जाता।(कबीर का विरोध हिंदू धर्म के लिए भी है, मगर प्रसंग की बाध्यता के चलते विवेचन इस्लाम तक सीमित है)। 'कांकड़ पाथर जोरि कै मसजिद लई चिनाय' के अलावा हज़, नमाज़, रोजा, कुर्बानी, रीति–रिवाज, खान–पान, आचार–विचार, मक्का–मदीना, काबा, मस्जिद आदि पर कबीर ने बेहद तीखी और धर्म के ठेकेदारों को भीतर तक झुलसा देने वाली व्यंग्य उक्तियाँ की हैं–

तुरुक रोजा–नीमाज गुजारै, बिसमिल बाँग पुकारै।
इनकी भिस्त कहाँ तें होइ है, साँझै मुरगी मारै।।[6]
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि में करै सगाई।[7]

और तो और वे कुरान को भी झूठा (मिथ्या) घोषित कर देते हैं–

"बेद कतेब इफतरा भाई"।[8]

जिस समय का शासक इस्लाम का अनुयायी हो और इस्लाम के प्रचार–प्रसार के लिए मार–काट तक करवा रहा हो, ऐसी हिंसक साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ जो रचनाकार खुल कर बोल रहा हो, बार बार मुल्लाओं को चुनौती दे रहा हो,धर्माचार्यों– धर्म के ठेकेदारों को अपनी वाणी में निशाने पर ले रहा हो, उसके बारे में यह कहना कि उसके यहाँ राज–विरोध नहीं है, अटपटा लगता है। जब शासक किसी एक धर्म विशेष को प्रसारित करना चाहता हो, और रचनाकार उसी धर्म विशेष का खंडन कर रहा हो, तब क्या यह राजसत्ता के लिए चुनौती नहीं है?
किसी हिंदी आलोचक को कबीर में राज–विरोध दिखे या न दिखे, तत्कालीन राजसत्ता जरूर उनमें अपना विरोध देखती रही होगी। क्योंकि यह विरोध ही रहा होगा कि वह राजसत्ता कबीर को मरवा डालने की कोशिश करती है। इसी संदर्भ में कृष्णदत्त पालीवाल का यह कहना– "कबीर में एक संत योद्धा ने जन्म लिया था। वे सिकंदर लोदी को ललकारते हैं– 'रावण सरिखा चल गया, लंका का सरदार'। सिकंदर लोदी कबीर को गंगा में फिंकवा देता है पर कबीर डरते नहीं हैं"[9] – क्या राज–विरोध की ओर इशारा नहीं है?
कहा जाता है कि एक बार अकबर ने तुलसीदास को अपने 'नवरत्न' में शामिल करने की इच्छा से उन्हें बुलावा भेजा। बुलावा लेकर तुलसी के परम प्रिय मित्र अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना स्वयं उनके पास पहुँचे। तुलसीदास ने विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़ लिये– 'तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार'। तुलसीदास राजसत्ता के प्रति 'कोई नृप होऊ हमें का हानी' वाली भावना से तटस्थ नहीं हैं। उन्हें सत्ता से मोह नहीं था मगर जन सरोकारों को लेकर सत्ता के समीक्षक वे जीवन पर्यन्त बने रहे–

दिन दिन दूनो देखि दारिद दुकाल दुख
दुरित दुराज सुख सुकृत सकोचु है।[10]

तुलसी ऐसी राज व्यवस्था चाहते थे जो सभी जनों का ख़्याल रखती हो। 'रामचरितमानस' में उनकी 'रामराज्य' की परिकल्पना एक ऐसी ही भावना है। जो राजा अपनी प्रजा के सुख की व्यवस्था नहीं करता, वे उसे श्राप दे डालते हैं–

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी।।[11]

1. कृषक जन

भक्ति आंदोलन समाज के जिस वर्ग में सबसे ज़्यादा पसरा–पनपा, वह है किसान और कारीगर–मजदूर वर्ग। किसानों ने भक्ति आंदोलन को बहुत कुछ दिया भी और बहुत कुछ उससे लिया भी। किसान सिर्फ अन्नदाता नहीं होता, जीवन–जीविका भी देता है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार आज भी देश की लगभग 60 फ़ीसदी जनसंख्या अपनी जीविका के लिए कृषि पर आश्रित है। उस समय तो आय का प्रमुख स्रोत काश्तकारी ही थी। अन्य कारीगर–मजदूर वर्ग के काम–धंधे खेती और किसान के आसपास घूमते थे। फसल चौपट होने या उपज अच्छी होने का नकारात्मक–सकारात्मक असर इस वर्ग पर पड़ता ही पड़ता था। राजे–रजवाड़ों के भोग–विलास–ऐश्वर्य का इंतजाम भी किसान खेतों में पसीना बहाकर लगान के रूप में करते थे। समूची सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था की आय का प्रमुख स्रोत होने से किसान का शोषण और अत्याचार कई स्तरों पर होता था। इस शोषण की पीड़ा से कराहने की आवाज, किसान की यह टीस, कबीर की कविता में भी गुंफित है। मगर कान लगाकर सुनने पर सुनायी देती है! कान लगाकर सुनना अर्थात् कबीर के पद आध्यात्मिक रूपकों में लिपटे हुए हैं। पाठक को आध्यात्मिक रूपक को भेदते हुए पद में अन्तर्व्यक्त सामाजिक यथार्थ तक पहुँचना होगा। किसान वहाँ अपने ऊपर हो रहे अत्याचार और अपनी दरिद्रता पर दीनता से हाथ जोड़े आसूँ बहाता मिलेगा–

अब न बसूँ इहि गाइँ गुसाँई तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम।
नगर एक तहाँ जीवधरम हता, बसै जु पंच किसानाँ।
नैनूँ निकट श्रवनूँ रसनूँ, इन्द्री कह्या न मानै हो राम।

गाँइ कु ठाकुर खेत कु नापै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम।
खोटी महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरा दिवाँन दादि नहिं लागै, इक बाँधै इक मारै हो राम।
धरमराई जब लेख्या माँग्या, बाकी निकसी भारी।
पाँच किसाना भाजि गये हैं, जीव धर बाँध्यौ पारी हो राम।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बाँधौ भेरा।
अबकी बेर बकसि बंदे कौं, सब खेत करौ नबैरा।।[12]

किसान हाथ जोड़कर खड़ा है, 'हुजूर, बस अबकी बख्श दो। आगे से सारा बकाया निपटा दूँगा।' तत्कालीन समाज के किसान का "यह सामाजिक दुख इतना उत्कट है कि कबीर जैसे संवेदनशील सन्त को आध्यात्मिक क्षणों में भी उद्वेलित करता रहता है। एक तरह से यह भक्ति भाव के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थ का हस्तक्षेप है।"[13] कबीर पटवारी की तुलना सर्प और मृत्यु से करते हैं। उसकी नीतियाँ सर्प–सी विषैली और मृत्यु जैसी पीड़ादायक होती थीं– 'हरि के लोगा मोकउ नीति डसै पटवारी।'
कबीर की कविता में किसानी जीवन के रूपक–बिम्ब–प्रतीक भी गुंफित मिलते हैं। इससे उनकी कविता और जीवंत बन पड़ी है। "कहीं फसल रौंदते हिरण हैं (जतन बिन मृगनि खेत उजारे), कहीं जंगली नीलगायें हैं, कहीं भूसा और दाने अलग करते किसान हैं, कहीं खेत में सिला बिखरा हुआ है, कहीं उपज हड़पते कर्मचारी हैं तो कहीं बाड़ी में सिंचाई करता कर्मरत किसान है।"[14]
कबीर के समय का हाथ जोड़े खड़ा किसान तुलसी तक आते – आते खाली हाथ रह जाता है। करने के लिए खेती तो बचती ही नहीं, कोई और रोजगार भी नहीं मिल पा रहा–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
x x x x
दारिद–दसानन दबाई दुनी दीनबंधु
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।।[15]

अकाल और दरिद्रता का असर इतना मारक है कि लोग ओछे–बड़े, कैसे भी, कुछ भी काम करने को तैयार हैं। पेट के लिए बेटा–बेटी को भी बेचने के लिए मजबूर हैं। अन्नदाता के लिए ही अन्न के लाले पड़े हैं–

ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।[16]

2. व्यापारी जन

कबीर इन्हें बनिया–बनजारा कहते हैं। कबीर के समय में व्यापारियों की तीन कोटियाँ थीं– "बड़े व्यापारी जो जवाहरात और बहुमूल्य वस्तुओं का व्यापार करते थे। उनके बड़े बड़े सार्थ देश के बड़े बड़े नगरों और सुदूर देशों की यात्रा करते थे। ... दूसरे मँझोले किस्म के व्यापारी होते थे जो 'गून' (वह वारदाना जिसमें व्यापार के लिए सौदा भरा जाता था) को बैल पर लादकर एक नगर से दूसरे नगर को ले जाते थे। तीसरे, छोटे व्यापारी होते थे जो 'भाँवरी' कहलाते थे। ये पीठ पर सामान लादकर घर–घर गाँव–गाँव बेचते फिरते थे। कबीर की सहानुभूति छोटे तबके के व्यापारियों के साथ थी।"[17] इन व्यापारियों का व्यापार जोखिम भरा होता था क्योंकि उस समय रास्ते सुनसान और असुरक्षित तथा बीहड़ हुआ करते थे, जिससे लुटेरे–डाँकू अक्सर लूट–पाट किया करते थे और व्यापारियों के जान–माल दोनों ख़तरे में पड़ जाते थे। मूल्य घटने व अन्य कारणों के चलते उन्हें घाटा भी उठाना पड़ जाता था जिसमें उनका मूलधन भी डूब जाता था–

मोहि ऐसें बनिज सौं कवन काजु।
जिहि घटै मूल नित बढ़ै ब्याजु।।[18]

उस समय के जो बड़े और मँझले व्यापारी थे, वे साहूकारी भी करते थे। ये साहूकार छोटे छोटे साधारण व्यापारियों को सूद पर कर्ज़ देते थे। सूद की दर सवाई होती थी यानी एक रुपया लेने पर सवा रुपया (एक रुपया और पच्चीस पैसे) लौटाना होता था। इस सूदखोरी के चलते साधारण व्यापारियों के लाभ का एक बड़ा हिस्सा इन सूदखोरों के खाते में चला जाता था और ये साहूकार बैठे – बैठे ही लखपति हो जाते थे। सूद न चुका पाने पर कभी कभी व्यापारी का धंधा चौपट भी हो जाता था–

मन रे कागज कोर, कहा भयौ व्यौपार तुम्हारे कलतर बढ़े सवाया।
बड़े बौहरे साँठी दीन्हौ कलतर काढ्यो खोटै।
चार लाख अरु असी ठीक दै जनम लिष्यो सब चोटै।
अबकी बेर न कागद कीरयौ तौ धर्म राई सूँ तूटै।
पूँजी बितड़ि बंदि ले दैहै तब कहै कौन के छूटै।।[19]

कबीर के समय का जो साधारण छोटा व्यापारी सूद लेकर जोखिम उठाकर व्यापार कर रहा था, वह तुलसी के समय में आकर लगभग चौपट हो जाता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि इस दौर में किसानों की स्थिति भी भुखमरीग्रस्त थी। किसान खेती नहीं कर पा रहा था। वैसे ही व्यापारी के लिए भी व्यापार करना बेहद मुश्किल हो गया था। दोनों की एक जैसी स्थिति के मध्य सम्बन्ध है। दरअसल छोटे व्यापारी का व्यापार आज भी ज्यादातर कृषक वर्ग के भरोसे चलता है। यह आश्रयता तब तो और भी ज्यादा रही होगी जब समूचे समाज की आय और जीविका का प्रमुख स्रोत काश्तकारी ही थी। साधारण छोटे व्यापारी किसानों से उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएँ खरीदते थे जिन्हें वे घर–घर, गाँव–गाँव या बाजार में ले जाकर बेचते थे और फिर वहाँ से किसानों के रोजमर्रा इस्तेमाल की तथा अन्य उपयोग की वस्तुएँ लाकर किसानों को बेचते थे। मगर जब किसान के सामने खाने–पालने का संकट खड़ा हो गया तब वह अन्य वस्तुएँ कैसे खरीदता। यह मात्र संयोग नहीं है कि तुलसीदास के यहाँ व्यापारियों और अन्य श्रमजीवियों की बेकारी अवस्था का वर्णन किसानों के साथ साथ मिलता है–

किसबी, किसान कुल, बनिक, भिखारी, भाँट
चाकर, चपल, नट, चोर, चार, चेटकी।।[20]

खेती के साथ व्यापार वृत्ति को भी कुछ नहीं सूझ रहा है। यह एक प्रकार की पारस्परिकता है। आगे भी वे यही बात दुहराते हैं– 'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि / बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।'

3. कारीगर–श्रमजीवी जन

भक्ति भाव–धारा को जन आंदोलन में तब्दील करने में जिस तीसरे तबके का नाम विशेष उल्लेख्य है, वह है कारीगरों–श्रमजीवियों का तबका। इतिहासकार प्रो. इरफान हबीब भक्ति आंदोलन के प्रसार में दस्तकारी वर्ग के योगदान को ख़ासा महत्वपूर्ण मानते हैं। कबीरदास भी एक दस्तकार थे, जुलाहा थे। देश में एक नयी राज व्यवस्था कायम होने से यहाँ की सामाजिक संरचना में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। ब्राह्मणों की वर्ण व्यवस्था के चलते पहले जो जातियाँ हाशिये पर पड़ी रहती थीं, उन्हें रोजगार मिला जिससे उनकी आर्थिक स्थिति तो सुधरी ही सामाजिक स्थिति भी उभरी और पहले से मजबूत हुई। पेट भरने की चिंता से सहूलियत मिली तो मुख्य धारा की ओर नज़र पड़ी। भक्ति

आंदोलन 'जात पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि को होई' के समभाव से आगे बढ़ रहा था। अतः ये जातियाँ भी उसमें शामिल हो गयीं। इतिहास में पाँच शिल्पकारों के नाम प्रमुखता से मिलते हैं– बढ़ई, लुहार, कुम्हार, नाई और धोबी। कबीर अपनी 'वाणी' में इनके साथ साथ अन्य सभी श्रमजीवियों को याद करते हैं–

आवध राम सबै करम करिहूँ, सहज समाधि न जम थैं डरिहूँ।
कुंभरा ह्वै करि बासन धरिहूँ, धोबी ह्वै मल धोऊँ।
चमरा ह्वै बासन रंगौ, अघौरी जाति पाँति कुल धोऊँ।
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौ, पाप पुंनि दोऊ खोऊँ।
पंच बैल जब सूध चलाऊँ, राम जेवरिया जोरूं।
क्षत्री ह्वै करि खड़ग सँभालूं, जोग जुगति दोऊ साधूं।
नउवा ह्वै करि मन कूं मूंडूं, बाढ़ी ह्वै कर्म बाढू।
अवधू ह्वै करि यह तन धूतौ, बधिक ह्वै मन मारूँ।
बनिजारा ह्वै तन कूं बनिजूं, जुवारी ह्वै जम जारूँ।
तन करि नवका मन करि खेवट, रसना करऊँ बाड़ारूँ।
कहि कबीर भवसागर तरिहूँ, आप तिरू बष तारूँ।।[21]

निम्न वर्ण–वर्ग के लोगों के प्रति यह सम्वेदना और सहानुभूति विरल है। यह सम्वेदना – सहानुभूति उसमें हो सकती है जो जन–पीड़ा को देखा हो, समझा हो। उसके दर्द को अपना दर्द समझता हो। "कबीर के काल में जरायमपेशा जातियों के साथ घोर अत्याचार होता था। गुलामों का व्यापार होता था। वे बेचे जाते थे। समय का यह दर्दनाक इतिहास उनकी इस पंक्ति में बोलता है– 'मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं'। गुलामों–पशुओं की तरह पकड़कर बेचे जाने की चर्चा तुलसी भी करते हैं– पर कबीर में यह चर्चा एकदम सीधी और साफ है।"[22]
निम्न वर्ण–वर्ग के लोगों के प्रति जो सहानुभूति कबीर की कविता में है, वह तुलसी काव्य में भी देखी जा सकती है। तुलसी उन्हें विनम्रतापूर्वक सम्मान देते हैं। 'रामचरितमानस' में ऐसे दृश्य कई जगहों पर हैं–

मिलहि किरात कोल बनवासी। बैखानस बटु जती उदासी।।
करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही। केहि बन लखन राम बैदेही।।[23]

'करि प्रनाम' पूछना भरत का ही नहीं, रचनाकार के भी वनवासियों के प्रति प्रेमपूर्ण दृष्टिकोण का परिचायक है। यह तो रही सम्मान की बात, तुलसी अपने समय के श्रमजीवी–कारीगर वर्ग के सामाजिक यथार्थ के चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक यथार्थ के चित्र बाबा तुलसीदास ने 'कवितावली' में उतारे हैं। 'किसबी, किसान कुल, बनिक, भिखारी, भाँट / चाकर, चपल, नट, चोर, चार, चेटकी' सबको एक साथ लाते हुए लिखते हैं–

जीविका बिहीन लोग सीद्यमान, सोच बस
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई का करी'?[24]

तुलसी साहित्य को पढ़ते हुए मालूम होता है कि नौकरियों के लाले आज ही नहीं, तब भी पड़े हुए थे। बेरोजगारी सघन थी– 'कहाँ जाई का करी।'
भक्ति काव्य के इस विहंगावलोकन के बाद इस विचार–प्रश्न का उपजना स्वाभाविक है कि क्या तब सारे देश और समाज की ऐसी अवस्था थी? जी नहीं। तब के समाज में भी भिन्न भिन्न माली स्तर थे। हर एक की हालत सोचनीय नहीं थी। वर्ग भेद तब भी था जिसकी ओर तुलसी इशारा देते हैं– 'माँगे पैत पावत पचारि पातकी प्रचंड/काल की करालता भले को होतु पोचु है' और कबीर की कविता प्रत्यक्षतः कह देती है–

एकनि दीना पाट पटवंर, एकनि सेज निवारा।
एकनि दीना गैर गूदरी, एकनि सेज पगारा।।[25]

"एक ओर तो ऐसा वर्ग था, जिसे जीवन की सारी सुख–सुविधाएँ थीं, और दूसरी ओर ऐसे लोग थे जिन्हें गुदड़ी पहनकर तथा पुआल पर सोकर जीवन यापन करना होता था। यह वर्ग भेद, धनी–वर्ग और निर्धन वर्ग का था।"[26] कबीर और तुलसीदास की पक्षधरता निर्धनवर्ग के लिए है। 'जन' के लिए है। यही जन पक्षधरता तुलसी के काव्य को 'लोकमंगल का काव्य' और कबीर के काव्य को 'किसानों, मजदूरों, शिल्पियों और छोटे व्यापारियों की अस्मिता का काव्य' बनाती है।
कबीर की कविता वर्ण–जाति–साम्प्रदायिकता जैसे सामाजिक मुद्दों पर मुखर रही है और प्रखर भी। इसी गुण के लिए उन्हें 'अक्खड़ फकीर' कहा जाता है। यह प्रखरता जन अभिव्यक्ति के पदों में भी है मगर सीधी सीधी नहीं। अभिव्यक्ति है– मार्मिक है, अर्थपूर्ण है मगर आध्यात्मिक रूपकों में बाँधकर। गौरतलब और महत्वपूर्ण यह है कि वे अपनी आध्यात्मिक अवस्था में भी जन से जुड़े रहते हैं क्योंकि "कबीर जन संस्कृति के कवि हैं। उनके कवि–कर्म में तत्कालीन लोक मानस के दुःखते–कसकते अनुभव रिले–मिले हैं। कबीर की आत्मपरक उक्तियों में समाज की चिंता और मनोदशा उभर पड़ी है। कबीर किसी अन्य कथा का गान न करके स्वानुभूतिमूलक काव्य रचते हैं"[27] – 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी'। तुलसीदास के यहाँ ये जन– 'किसबी, किसान कुल, बनिक, भिखारी, भाट' – बिना किसी आध्यात्मिक लाग–लपेट के सीधे सीधे अभिव्यक्ति पाते हैं।
ज़ाहिर है, भक्ति काव्य दो कवियों का काव्य नहीं है। प्रश्न उठ सकता है– 'तो इस जन आंदोलन की जन अभिव्यक्ति में दो ही रचनाकार क्यों?' और 'उपर्युक्त दोनों ही क्यों? बाकी अन्य दो क्यों नहीं?' बात जायज है। दरअसल कबीर और तुलसी को चुनना अपनी धुन में चुन लेना नहीं है। इसकी वाजिब वजह है, तर्क है, तुक है।
भक्ति काव्य की मुख्यतः दो धाराएँ रहीं– निर्गुण काव्य धारा और सगुण काव्य धारा। कबीर निर्गुण परम्परा के प्रतिनिधि हैं और तुलसी सगुण काव्य परम्परा के। कबीर भक्ति आंदोलन के उस दौर (काल–खण्ड) के कवि हैं, जब भक्ति आंदोलन उद्दाम वेग से अपने उत्कर्ष की ओर गतिशील था। यह समय भक्ति आंदोलन का पूर्वपक्ष है। तुलसी उस काल–खण्ड के रचनाकार हैं, जिसके बाद भक्ति आंदोलन अपने उत्कर्ष से नीचे की ओर लुढ़कने लगता है। यह समय भक्ति आंदोलन का उत्तरपक्ष है। दोनों अपने युग के, भक्ति काल के दो छोर हैं। भक्ति काव्य और भक्ति आंदोलन पर एक सार्थक चर्चा के लिए इन दो छोर का विवेचन पथ में होना स्वाभाविक है। कबीर और तुलसी, इन दो कवियों के साहित्य का अध्ययन भक्ति काव्य और भक्ति आंदोलन के विषय में सम्यक् समझ तो नहीं, मोटा–मोटी समझ बना देता है। 'भक्ति काव्य : जन आंदोलन में जन अभिव्यक्ति' विषय का कलेवर शोध प्रबंध का है, शोध आलेख में समेटने के लिए सीमा भी जरूरी है और चयन भी। बात कबीरदास से आरम्भ हुई है क्योंकि "हिंदी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंदी जानता है : तुलसीदास।"[28] तो तुलसीदास भी साथ साथ चल दिये हैं।

संदर्भ सूची

1. 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य', मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, आवृत्ति संस्करण 2012, पृ. 7
2. 'जन इतिहास का नजरिया', स. अजय तिवारी, यश पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण 2013, पृ. 50

3. 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य', मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, आवृत्ति संस्करण 2012, पृ. 5
4. 'कबीर ग्रंथावली', स. श्यामसुन्दर दास, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, साखी 76, पृ. 241
5. 'मध्यकालीन भारत' भाग–1, स. हरीशचंद्र वर्मा, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 39वाँ पुनर्मुद्रण मार्च 2014, पृ. 245
6. 'कबीर', हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, उन्नीसवीं आवृत्ति 2014,पद 250, पृ. 272
7. उपरोक्त, पद 247, पृ. 271
8. उपरोक्त, पद 252, पृ.272
9. 'भक्ति काव्य से साक्षात्कार', कृष्णदत्त पालीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ, पहला संस्करण 2017,पृ. 82
10. 'कवितावली', स. सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2016, पृ. 142
11. 'रामचरितमानस', टीका. हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, सामान्य एवं प्रथम संस्करण स. २०७५, पृ. 330
12. 'कबीर ग्रंथावली', स. श्यामसुन्दर दास, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पद 222, पृ. 169–170
13. 'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता', नामवर सिंह, स. आशीष त्रिपाठी, पहला संस्करण, दूसरी आवृत्ति मार्च 2011, पृ. 39
14. 'कबीर का समग्र : अनभै संसार' (प्रथम खण्ड), प्रो. गोविंद रजनीश, अमरसत्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015, पृ. 76
15. 'कवितावली', स. सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2016, पृ. 151–152
16. उपर्युक्त, पृ. 151
17. 'कबीर का समग्र : अनभै संसार' (प्रथम खण्ड),प्रो. गोविंद रजनीश, अमरसत्य प्रकाशन,प्रथम संस्करण 2015,पृ. 81–82
18. 'कबीर ग्रंथावली', स. पारसनाथ तिवारी, हिंदी परिषद्, प्रयाग,प्रथम संस्करण 1961,द्वितीय खंड, पद 126, पृ. 74–75
19. 'कबीर ग्रंथावली', स. श्यामसुन्दर दास, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पद 108, पृ. 142
20. 'कवितावली', स. सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2016, पृ. 151
21. 'कबीर ग्रंथावली', स. श्यामसुन्दर दास, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पद 389, पृ. 212
22. 'भक्ति काव्य से साक्षात्कार', कृष्णदत पालीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ, पहला संस्करण 2017, पृ. 101
23. 'रामचरितमानस', टीका. हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, सामान्य एवं प्रथम संस्करण स. 2075, पृ. 435
24. 'कवितावली', स. सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2016, पृ. 151
25. 'कबीर ग्रंथावली', स. श्यामसुन्दर दास, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2010, पद 105, पृ. 141
26. 'कबीरकालीन भारतीय समाज', डा. अरुण शास्त्री, यश पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 136
27. 'भक्ति काव्य से साक्षात्कार', कृष्णदत पालीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ, पहला संस्करण 2017, पृ. 82
28. 'कबीर', राजकमल प्रकाशन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, उन्नीसवीं आवृत्ति 2014, पृ. 170